# जैन-योग और उसका वैशिष्ट्य

☐ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

जब विज्ञान की उपलब्धियाँ सार्वभौम होती हैं—देश काल निर्विशेष—तब अध्यात्म-विज्ञान की उपलब्धि देशकाल या किसी भी "विशेष" से नियंत्रित किस प्रकार हो सकती है ? हाँ, उसकी आन्तरात्मिक प्रक्रिया—साधना अवश्य देश काल या धारा विशेष से नियंत्रित हो सकती है। "योग" एक प्रक्रिया है—माध्यम है—इसीलिए उसे धाराविशेष से जोड़कर विवेचित किया जाता है—और तब वह अनेक प्रकार का हो सकता है जैसे—

**मार्कण्डेय प्रोक्त-हठयोग**
**बौद्धों का षडंगयोग**
**नाथपंथ प्रवर्तित-हठयोग**
**पातञ्जलयोग**
**तथा जैनयोग**

मैं यहाँ "जैन-योग" पर विचार करना चाहता हूँ। "योग" 'सम्बन्ध' का दूसरा नाम है—वह "अ-केवल" है—हमारी उपलब्धि "केवल" हो जाना है—जो सम्बन्ध हैं—उनसे मुक्त हो जाना है। अनादिकाल प्रवाह से आयात जल-कल्प कषाय से सम्पृक्त आत्मा परिवेश में व्याप्त कर्म और भाव पुद्गलों से सम्बद्ध होकर अपना स्वरूप तिरोहित कर लेता है—इसी तिरोधान से आत्मा का अ-योग करने के लिए विशिष्ट "योग" अपेक्षित है। यह "विशिष्ट-योग" उस मलाधायक-योग का शत्रु है—विनाशक है। काँटे से ही काँटा निकाला जाता है—विशुद्ध आत्मा निरन्तर अपनी जगह है। एक साधक मुनि ने बहुत सही कहा है—"अयोग अयोग होता है और और योग योग होता है। वह न जैन होता है न बौद्ध और पातञ्जल। फिर भी व्यवहार ने कुछ रेखाएँ खींच दीं—योग के प्रवाह को बाँध बना दिया और नाम रख दिया—जैन-योग, बौद्ध-योग, पातञ्जल-योग। पर इस सत्य को न भूलें—योग योग है—फिर उसका कोई भी नाम हो।

गंतव्य "स्वभाव" या "कैवल्य" की उपलब्धि है—अयोग या आत्मा की स्वरूप प्रतिष्ठा है—पर तदर्थ मार्ग साधक की रुचि और संस्कार के अनुरूप आचार्य निर्धारित करता है—इसलिए भारतीय धर्मसाधना में धारा-भेद से मार्गभेद होता है और होना भी चाहिए। अपने मार्ग से चलना ही चलना है। दूसरे का मार्ग भी "मार्ग" है पर वह "दूसरे" के लिए है—हर धारा के साधक को अपने ऊर्ध्वगामी संस्कार के अनुरूप "मार्ग" के प्रति आस्थावान और निष्ठावान होना चाहिए—वही उसे गंतव्य तक ले जा सकता है। अध्यात्म-मार्ग के मर्मी सिद्धों का सही निर्णय है—अतः जहाँ एक दूसरे का विरोध दिखाई पड़ता है—वहाँ विरोध नहीं, अपने प्रति निष्ठा का प्रदर्शन है। जिनका सम्प्रदायबोध स्पष्ट है—वे "ऐसा" ही मानते हैं—पर जिनका सम्प्रदायबोध विकृत है, वह "वैसा" मानते हैं।

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

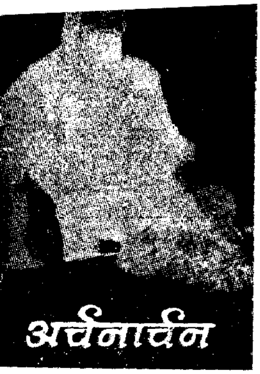




हाँ, तो प्रकृत है—धाराविशेष के अनुरूप "योग" का—ऊर्ध्वगामी संस्कार अनुरूप "मार्ग" के स्वरूप का निर्धारण। मुनियों की धारणा है कि जैनधर्म की साधना-पद्धति का नाम मुक्तिमार्ग है—अष्टांग-योग सांख्यों की साधना-पद्धति का नामान्तर है। जैसे धारा में मुक्तिमार्ग के तीन अंग हैं—जिनकी "व्यस्त" नहीं "समस्त" रूप में हेतुता है—

**सम्यक्-दर्शन**
**सम्यक्-ज्ञान**
**और सम्यक्-चारित्र**

पातञ्जलयोग की तुलना में इस "रत्नत्रयी" को जैनयोग कहा जाता है। बौद्धों के यहाँ भी रत्नत्रय हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा। शील से समाधि और समाधि से प्रज्ञा। प्रज्ञा अर्थात् पारमिता प्रज्ञा—नैरात्म्यबोद्ध-बुद्धि जितनी भी संभावित कोटियों में "स्व-भाव" निरूपण कर सकती है—उससे मुक्तरूप में "तथता" का साक्षात्कार। पातञ्जलधारा में भी प्रज्ञा का अतिक्रमण असंप्रज्ञात में होता है—तब "द्रष्टा का स्वरूपावस्थान" सम्पन्न होता है। जैन-धारा अपने ढंग से कैवल्य लाभ करती है—तदर्थ जिस रत्नत्रयी का सहारा लेती है—वही है—जैन-योग। वैसे हम भीतर धंसते जायें तो इन तीनों—ब्राह्मण, बौद्ध एवम् जैन धाराओं में अनेकविध साम्य दृष्टिगोचर होंगे। उदाहरणार्थ विश्वव्यापी अध्यात्म-साधना या योग (उपाय) सबसे पहले "चित्तस्थैर्य" अर्जित करती है—यही 'बल-लाभ' है। इस 'बल-लाभ' के बिना अशक्त साधक इस दिशा में एक कदम नहीं चल सकता। चित्तस्थैर्य का उपाय "शास्त्र निर्दिष्ट" है—जो "आचार्य दीक्षाजन्य" है। अत: पौरुषेय-बोध-मलिन बोध से दुर्दृश्य इस मार्ग में सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् विश्वास ही सहारा है। "श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्"—सम्यक् श्रद्धावान् ही सम्यक् ज्ञान लाभ करता है। तभी भीतर से चारित्र की सहज सिद्ध सुगंध चारों तरफ फूट कर फैलती है। यह सही है कि प्रत्येक धारा अपने स्वभाव के अनुसार अपने भीतर से अपना मार्ग निर्धारित करती है। कोई किसी की नकल नहीं करता, फिर उन मार्गों में साम्य मिल जाय—यह बात दूसरी है। वैसे साधकों में धारान्तर की साधनाओं के पारस्परिक प्रभाव को शत-प्रतिशत नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। ग्यारहवीं शती में आचार्य रामसेन का "तत्त्वानुशासन" और आचार्य शुभचन्द्र का "ज्ञानार्णव" अष्टांगयोग, हठयोग और तंत्रोक्त योग से प्रभावित हुआ है। आगमिक साधना का "धर्म-ध्यान" इस काल में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार रूपों में वर्गीकृत हो गया। इस वर्गीकरण पर धारान्तर का प्रभाव स्पष्ट है—जो एक स्वतंत्र विश्लेषण का विषय है। बौद्धों की हीनयानी "विपश्यना" जैन-मार्ग में भी "प्रेक्षा या विपश्यना" के रूप में उपलब्ध है।

चित्तस्थैर्य सार्वभौम अध्यात्मसाधना का सामान्य प्रस्थान है—बिन्दु है। इसे वृत्ति की एकतानता या ध्यान कहा जाता है। आचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध (आयारो) ध्यान पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। वस्तुत: जैनमार्ग आत्मा के साथ कर्म का योग और—अयोग निरूपित करते हुए सात पदार्थों की बात करता है—आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, जीव तथा अजीव। जैनदर्शन में एक "योग"—उमास्वाति के द्वारा बंधन के पांच कारणों में से एक है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। आलोचना योगमुक्ति का मार्ग है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जबकि यह योग बन्धन के पाँच कारणों में से एक है। वस्तुतः जैन-योग के मुख्य स्तम्भ होते हैं—संवर और तप। संवर पाँच प्रकार का है—सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग और जैन मुक्तिमार्ग की ये ही भूमिकाएँ या सोपान हैं। ध्यान तप का ही एक प्रकार है—जिससे साधना का आदि, मध्य और अन्त—सभी परिव्याप्त है। उन्हीं का विवेचन जैनयोग का विवेचन है। संवर पाँच प्रकार के हैं—क्योंकि बन्ध के कारण भी पाँच प्रकार के हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग—यह बताया जा चुका है। ये समस्त उपकरण आत्मा पर पड़े हुए आवरणीय कर्म के स्रोत हैं। संवर के पाँचों प्रकारों से बंध के इन प्रकारों का संवरण किया जाता है और तदनन्तर आगत आवरणीय कर्मों की निर्जरा। तदनन्तर निरावरण स्वरूप-चैतन्य प्रतिष्ठित हो जाता है। तप के अंग ध्यान या प्रेक्षण से ध्येय विषय मात्र का साक्षात्कार होता है—फलतः दोषदर्शन से पराविरति और पराविरति से कषायक्षय होता है।

जैन-योग-मार्ग का विवेचन करते हुए मुनि नथमलजी ने दो प्रश्न उठाए हैं—क्या जैन-योग में चक्रों का स्थान है? क्या कुंडलिनी के सम्बन्ध में कोई चर्चा है। इन्होंने इन अनुत्तरित प्रश्नों का भी समाधान जैन वाङ्मय के साक्ष्य पर दिया है। उनका पक्ष है कि स्थूल शरीर के भीतर तैजस् और कर्म—ये द्विविध शरीर हैं और इनके भीतर मध्यम परिमाण आत्मा है। वह चिन्मय है। वह शरीर व्याप्त है। चैतन्य अजीव का प्रकाशक है—जैसे-जैसे आवरण क्षय होगा—प्रकाश वैसे-वैसे निरावृत होता जायेगा। शरीर का प्रत्येक अवयव प्रत्येक कोशिका में चैतन्यमय प्रकाशन की योग्यता है, पर कार्यकारी क्षमता के लिए कर्मात्मक आवरण का योग द्वारा क्षय करना होगा। सामान्यतः माना जाता है कि नाभि, हृदय, कण्ठ, नासाग्र, भृकुटि, तालु तथा सिर—ये चैतन्य केन्द्र हैं, इनका विकास ध्यान से होता है। मुनिजी के मत से हठयोग और तंत्रशास्त्र में इन्हीं को षट्चक्र कहा जाता है। इनके विकास से अवधिज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान होता है। ध्यान या प्रेक्षाकेन्द्र यदि सम्पूर्ण है तो सम्पूर्ण शरीर ही अतीन्द्रिय ज्ञान का कारण बन सकता है और यदि चैतन्य-केन्द्रों को ही प्रेक्षण का विषय बनाया जाय—तो मात्र वे ही कारण बन पाते हैं। पहला कठिन और दूसरा अपेक्षाकृत सरल। प्रेक्षा या ध्यान से एक ओर करण निष्पत्ति होती है और दूसरी ओर आवरणक्षय। जहाँ तक कुण्डलिनी का संबंध है मुनिराजजी का निष्कर्ष है कि वह तेजोलेश्या नाम से जैनशास्त्रों में संकेतित है। बात यह है कि हम चैतन्य और परमाणु पुद्गल दोनों को साथ-साथ जी रहे हैं। पहले की शक्ति से दूसरा सक्रिय होता हैं और दूसरे के सक्रिय होने से पहले की उनके अनुरूप परिणति होती है। इस नियम के अनुसार तेजोलेश्या के दो रूप बनते हैं—भावात्मक और पुद्गलात्मक। इस प्रकार उनके अनुसार तेजोलेश्या चित्त की विशिष्ट परिणति या चित्तशक्ति है। उनके अनुसार अतीन्द्रियज्ञान का विकास ज्ञानावरण के विलय से होता है—और उसकी अभिव्यक्ति तेजोलेश्या से होती है। मुनिजी का कहना है कि यदि कुंडलिनी (तेजोलेश्या) एक वास्तविकता है तो उसके अपलाप का सवाल ही नहीं उठता। यह बात दूसरी है कि यह नाम जैनपरम्परा के प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता पर तंत्रशास्त्र और हठयोग का पारस्परिक प्रभाव होने पर उत्तरवर्ती साहित्य में इसका प्रयोग भी मिलता है। आगम और उसके व्याख्या-साहित्य में कुण्डलिनी

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का नाम तेजोलेश्या है। मुनिजी के अनुसार "अग्नि-ज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाली चैतन्य परिणति का नाम तेजोलेश्या है।" (जैन-योग, पृ. १२८) निस्संदेह दसवीं—ग्यारहवीं सदी में शक्ति लक्षण आगम साहित्य का प्रभाव सभी धर्मों—ब्राह्मण, बौद्ध, जैन पर पड़ा है और "पाहुड़ दोहा" (मुनि रामसिंह) आदि ग्रन्थों में शिवशक्ति शब्दों तक का प्रयोग हुआ है। "समयसार" में कहा है—

**शोभित निज अनुभूति जुत चिदानंद भगवान।**
**सार पदारथ आतमा, सकल पदारथ जान ॥१॥ —(जीवद्वार)**
**जो अपनी दुति आप विराजत,**
**है परधान पदारथ नामी।**
**चेतन अंक सदा निकलंक,**
**महासुरन सागर कौ विसरामी।**
**जीव अजीव जिते जग में**
**तिनको गुनगायक अंतरजामी।**
**सो सिवरूप बसै सिव थानक,**
**ताहि विलोकि नमै सिवगामी ॥२॥ —(जीवद्वार)**
अथवा—**जोग धरें रहै जोग सौं भिन्न,**
**अनन्त गुनातम केवलज्ञानी ॥३॥**

अर्थात् आत्मसत्ता को निज की चिदानंदमय अनुभूति होती रहती है—वह जगत्-सार भी है और जगत्-विश्व भी है। निम्नलिखित श्लोक तो नितान्त महत्त्व का है। जिसकी हिन्दी छाया ऊपर दी गई है—

**अनन्तधर्मणस्तत्त्व पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः,**
**अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥**

परमसत्ता अनेकान्तमयी है—अनन्तधर्मी है—आत्मबोधमयी है—जो नित्य प्रकाशमय है। यह प्रकाशस्वरूप आत्मविमर्शमय है। आगमों में इसी विमर्शशक्ति को स्फुरता अथवा कुण्डलिनी कहा गया है। शांकर धारा में इसी विमर्शात्याशक्ति विशेष का अनुन्मीलन है—यहाँ उन्मीलन कहा गया है। कुण्डलिनी के इस आगमसम्मत स्वरूप से मुनि नथमलजी द्वारा निरूपित रूप कुछ भिन्न प्रतीत होता है। मुनिजी इसे चित्त-शक्ति कहते हैं और आगम चित् शक्ति। विद्वज्जन इस विचार को और उसमें बढ़ा सकते हैं—मैंने तो केवल एक जिज्ञासा मात्र रखी है।

—देवासरोड, उज्जैन (म. प्र.)

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org